

पू० जम्बूविजयजी द्वारा सम्पादित

आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में स्वीकृत कुछ पाठों की समीक्षा^१

के० आर० चन्द्रा

यह सर्व-विदित है कि आचाराङ्ग का प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राकृत साहित्य का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इसकी भाषा भ० महावीर की मूल वाणी है—यह बात यदि सबको स्वीकार्य नहीं भी हो, तो भी इतना तो सबको मान्य है कि इसकी भाषा भ० महावीर की मूल वाणी के साथ बहुत समानता रखती है। अतः इस ग्रन्थ में प्राकृत भाषा का प्राचीनतम रूप उपलब्ध होना चाहिए। परन्तु वर्तमान संस्करणों में अनेक स्थलों पर भाषा की प्राचीनता विलुप्त सी जान पड़ती है। इसका कारण यह है कि प्राकृत भाषा में होने वाले सतत परिवर्तनों ने इस ग्रन्थ के उपदेशकों, अध्येता-आचार्यों, व्याख्याकारों एवं प्रतिलिपिकारों (लेहियों) को ऐसा प्रभावित किया कि ग्रन्थ की मूल भाषा में परिवर्तन आ गये और प्राचीनता के स्थान पर अर्वाचीनता प्रवेश कर गयी। पाठकों को सुविधा हो, इसलिए समय-समय पर भाषा के अप्रचलित रूप निकाल दिये गये और प्रचलित रूप रख दिये गये। ग्रन्थ की विविध प्रतियों में मिलने वाले विभिन्न पाठ इस प्राचीनता-अर्वाचीनता के साक्षी हैं। यह सब होते हुए भी प्राकृत भाषा के विकास का शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले को इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि कौन सा रूप प्राचीन है और कौन सा अर्वाचीन है। विभिन्न शताब्दियों के प्राकृत भाषा में मिलने वाले शिलालेख इस भाषा के तत्कालीन स्वरूप को जानने के लिए हमारे पास अकाट्य प्रमाण हैं। ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से प्राकृत भाषा का विकास सामान्यतः इस प्रकार माना गया है कि सबसे पहले इसमें संयुक्त व्यञ्जनों का समीकरण हुआ, तत्पश्चात् मध्यवर्ती अघोष व्यञ्जनों का घोष एवं घोष व्यञ्जनों का अघोष में परिवर्तन हुआ और अन्त में मध्यवर्ती व्यञ्जनों का लोप हुआ। विभक्तियों एवं प्रत्ययों में भी क्रमशः परिवर्तन आये, जिन्हें प्राकृत भाषा के ऐतिहासिक विकास का कोई भी अध्येता अच्छी तरह से जानता है। इसी भाषायी विकास या परिवर्तन को ध्यान में रखकर आचाराङ्ग के पू० जम्बूविजयजी द्वारा सम्पादित संस्करण की यह समीक्षा की जा रही है। इसके फलस्वरूप ऐसा प्रतीत होता है कि अभी भी आचाराङ्ग के एक ऐसे नये संस्करण की आवश्यकता है, जिसमें उपलब्ध प्रतों के आधार पर अनेक पाठ बदले जा सकते हैं, जो भाषा की प्राचीनता को सुरक्षित रखने में सहायक हैं।

१. अर्धमागधी आगम साहित्य के अनेक संस्करण प्राप्त हैं। उसी प्रकार आचाराङ्ग के भी अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं, परन्तु उन सबमें जर्मनी से प्रकाशित शुत्रिण महोदय का, आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित पू० सागरानन्दसूरिजी का, जैन विश्वभारती द्वारा प्रकाशित मुनि श्री नथमलजी का एवं श्री महावीर जैन विद्यालय द्वारा प्रकाशित पू० जम्बूविजयजी का—ये चार संस्करण महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। इनमें से प्रथम और अन्तिम संस्करण में ही विभिन्न प्रतियों से पाठान्तर दिये गये हैं, जबकि अन्य दो में पाठान्तर नहीं दिये गये हैं। अन्तिम संस्करण आधुनिकतम संस्करण होने से उसकी ही यहाँ पर समीक्षा की जा रही है।

प्रस्तुत समीक्षा ग्रन्थ की भाषा की प्राचीनता को कायम रखने में कितनी उपयोगी बन सकती है, इस पर विद्वानों को विचार करना है। यहाँ पर प्रस्तुत किये गये सुझाव स्वीकार करने योग्य हैं या नहीं, उन पर विद्वानों की आलोचना हो, इसी उद्देश्य से यह अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है, विद्वान् अपने-अपने विचार प्रकट करेंगे, जिससे प्राचीन ग्रन्थों के मूल भाषायी स्वरूप को सुरक्षित रखा जा सके।

श्री जम्बूविजयजी द्वारा स्वीकृत पाठों की समीक्षा

ध्वनि-परिवर्तन—

१. (क) प्राचीन रूप स्वीकृत किया गया है, चाहे वह प्राचीनतम प्रत में नहीं मिलता हो।
 १. अविजाणए (सूत्र १०, पृ० ४ पं० १; पाठान्तर—अवियाणए)
 २. परिपंदण (सूत्र ७, पृ० ३, पं० ९; सूत्र ५१, पृ० १३, पं० ८; सूत्र ५८, पृ० १५, पं० १; पाठान्तर—परियंदण)
 ३. गुणासाते (सूत्र ४१, पृ० ११, पं० १; पाठान्तर—गुणायाए)
 ४. पडिसंवेदयति (सूत्र ६, पृ० ३, पं० ७; पाठान्तर—पडिसंवेदेति, पडिसंवेएइ)
 ५. पवेदितं (सूत्र २६, पृ० ७, पं० १६; पाठान्तर—पवेतियं)
 ६. अघेदिसातो (सूत्र १, पृ० १, पं० १४; पाठान्तर—अहेदिसातो)
 ७. खेतण्णे (सूत्र ३२, पृ० ८, पं० १५; पाठान्तर—खेतण्णे, खेण्णे, खेयन्ने)
 ८. पिच्छाए (सूत्र ५२, पृ० १३, पं० १७; पाठान्तर—पिंछाए)
 ९. पुच्छाए (सूत्र ५२, पृ० १३, पं० १७; पाठान्तर—पुंछाए)
- (ख) कभी-कभी कागज की एक मात्र अर्वाचीन प्रत से प्राचीन रूप लिया गया है।
 १. अपरिणिव्वाणं (सूत्र ४९, पृ० १२, पं० १७; मात्र ला० प्रत का पाठ; (पाठान्तर—अपरिणिव्वाणं)

(ग) पद-रचना

१. विजहिता (सूत्र २०, पृ० ६, पं० ११; पाठान्तर—विजहित्तु)
२. कभी-कभी अर्वाचीन रूप स्वीकृत किया गया है, जबकि प्राचीन प्रतों एवं चूर्ण में प्राचीन रूप मिलता है।
 १. कप्पइ णे कप्पइ (सूत्र २७, पृ० ८, पं० १) यह पाठ ताडपत्रीय जे० प्रत और कागज की अर्वाचीन प्रतों में मिलता है।
 २. कप्पति णे कप्पइ (यह पाठ प्राचीन प्रतों एवं चूर्ण में मिलता है, लेकिन उसे छोड़ दिया गया है।)
 ३. सहसम्मुइयाए (सूत्र २, पृ० २, पं० ४) पाठ स्वीकृत है, जबकि चूर्ण का पाठ सहसम्मुतियाए और सं० शां० का पाठ 'सहसम्मुदियाए' छोड़ दिया गया है।

१. आगमों की मूल भाषा कितनी बदल गयी है, इसको जानने के लिए देखिए—पू० मुनि पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित 'कल्पसूत्र' की प्रस्तावना, पृ० ३ से ७, साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद, १९५२।

३. कभी-कभी अर्वाचीन रूप स्वीकृत किया गया है, चाहे वह चूर्णि एवं अर्वाचीन कागज की प्रतों का पाठ हो।

१. मंदस्स अविजाणओ (सूत्र ४९, पृ० १२, पं० १५, प्रत हे० १,२,३ एवं चूर्णि)

जबकि प्राचीन प्रतों शां०, खे०, खं० एवं जै० में 'मंदस्साविजाणतो' पाठ मिलता है। यदि ऐसा पाठ मिलता हो, तो उसे 'मंदस्स अविजाणतो' करने में क्या दोष है। लिपिकारों की भूल से भी सन्धि कर दी गयी हो। (शुब्रिग के संस्करण में चूर्णि एवं प्राचीन प्रत का 'मंदस्स अविजाणओ' पाठ (पृ० ५, पं० ४) स्वीकृत किया गया है।)

४. कभी-कभी चूर्णि में मध्यवर्ती मूल व्यञ्जन के मिलने पर भी उसका लोप स्वीकृत किया गया है।

(१) उववाइए (सूत्र १, पृ० २, पं० २) (चूर्णि-पाठ—उववाविए)

(२) सहसम्मुइयाए (सूत्र २, पृ० २, पं० २) (चूर्णि-पाठ—सहसामुतियाए)

प्राचीन रूप ही ग्रहण करना या चूर्णि एवं प्राचीन प्रतों में उपलब्ध रूप ही ग्रहण करना या चूर्णि के ही प्राचीन रूप को ग्रहण करना—ऐसा कोई नियमित विधान इस संस्करण में अपनाया गया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। अर्वाचीन प्रतों से अर्वाचीन रूप भी ग्रहण किये गये हैं। ऐसी अवस्था में किसी भी प्रत में यदि प्राचीन रूप मिलता हो, तो भ० महावीर के समय एवं प्राकृत के तत्कालीन रूप को ध्यान में रखते हुए प्राचीन रूप क्यों नहीं अपनाये जाने चाहिए? क्योंकि अर्वाचीन प्रतों के सामने आदर्श प्रत तो इससे भी प्राचीन ही रही होगी। ऐसी भी सम्भावना नहीं की जा सकती कि अर्वाचीन प्रतों में जानबूझकर रूपों को प्राचीन कर दिया गया हो। यदि ऐसा होता तो सभी रूपों को प्राचीन क्यों नहीं कर दिया जाता, कभी-कभी तो प्राचीन प्रतों में भी अर्वाचीन एवं प्राचीन रूप दोनों ही एक साथ मिलते हैं।

यहाँ पर इस दृष्टि से प्रस्तुत श्रीजम्बूविजयजी के संस्करण के कुछ पाठों की समीक्षा की जाय, उसके पहले शुब्रिग महोदय द्वारा स्वीकृत किये गये कुछ पाठों की समीक्षा करना भी उपयोगी सिद्ध होगा।

शुब्रिग के कुछ पाठों का विश्लेषण (आचाराङ्ग-प्रथमश्रुतस्कन्ध)

१. प्राचीन रूप स्वीकृत, भले ही अर्वाचीन प्रतों में मिलते हों।

स्वीकृत—णिव्वाणं, परियावेण

अस्वीकृत—(णेव्वाणं), (परियावेणं)

२. प्राचीन रूप अस्वीकृत, भले ही अर्वाचीन प्रतों में मिलते हों।

अस्वीकृत—(पडिसंवेदयइ), (समुट्टाय), (खेत्तण्णे)

स्वीकृत—पडिसंवेइइ, समुट्टाए, खेयण्णे

जबकि पू० जम्बूविजयजी ने अपने संस्करण में इन जगहों पर प्राचीन रूप स्वीकृत किये हैं—पडिसंवेदयति, खेत्तण्णे (संदी० प्रत में शुद्ध पाठ मिलते हैं, ऐसा कहने से उसका 'समुट्टाय' पाठ उनके (जम्बू०) लिए स्वीकार्य हो जाता है।)

३. प्राचीन रूप अस्वीकृत, भले ही प्राचीन प्रत में मिलता हो ।

अस्वीकृत—(जीवा अणेगे)

स्वीकृत—जीवा अणेगा

(श्री जम्बूविजयजी के अनुसार संदी० में मिलने वाला शुद्ध पाठ 'अणेगे' लिया जाना चाहिए)

[इससे यह सिद्ध होता है कि अर्वाचीन प्रतों में भी प्राचीन रूप मिलते हैं ।]

४. अर्वाचीन प्रत और चूर्णि में प्राचीन रूप मिलते हुए भी उसे छोड़ दिया गया है ।

अस्वीकृत—(अखेतत्ते)

स्वीकृत—अखेयत्ते

५. प्राचीन प्रत एवं चूर्णि में अर्वाचीन रूप प्राप्त होते हुए भी उसे ही लिया गया है ।

स्वीकृत—घायमीणे, समणुजाणमीणे

अस्वीकृत—(घायमाणे), (समणुजाणमाणे)

६. चूर्णि एवं प्राचीन प्रत का पाठ छोड़ दिया गया है ।

अस्वीकृत—(अस्सायं)

स्वीकृत—असायं

७. चूर्णि एवं अर्वाचीन प्रत का पाठ छोड़ दिया गया है ।

अस्वीकृत—(अविद्याणए), (पिञ्छाए)

स्वीकृत—अविजाणए, पिच्छाए

८. मात्र चूर्णि में प्राचीन रूप हो तो छोड़ दिया गया है ।

अस्वीकृत—(अकरणीयं), (अनित्तियं), (सोतपण्णाणेहि)

स्वीकृत—अकरणिज्जं, अनिच्चियं, सोतपण्णाणेहि

अस्वीकृत—(परिहायमाणहि)

स्वीकृत—परिहायमाणेहि

९. चूर्णि की प्रतों में गलत रूप भी मिलते हैं ।

पवुच्चई (पवुच्चइ) (शुब्रिग)

मंता (मत्ता) (जम्बू०, शुब्रिग)

हिंसिस्सु (हिंसिसु) (जम्बू०, शुब्रिग)

१०. चूर्णि की प्रतों में अर्वाचीन रूप भी मिलते हैं ।

आरंभमीणा (आरंभमाणा), परिन्नाए (परिन्नाय)

अविद्याणए (अविजाणए), पिञ्छाए (पिच्छाए)

लयं (लोयं); [जम्बू०, संस्करण]

[इससे यह सिद्ध होता है कि चूर्णि में सदैव प्राचीन और शुद्ध रूप ही मिलते हों, ऐसा नियम नहीं है ।]

११. विविध सम्पादकों के लिये एक ही पाठ उपलब्ध सामग्री एवं विविध प्रतों के अनुसार प्राचीन या अर्वाचीन हो सकता है ।

१. श्री जम्बूविजयजी ने 'अणित्तियं' पाठ स्वीकृत किया है ।

‘पिछाए’ पाठ श्री जम्बूविजयजी के लिए आचा० की प्राचीनतम ताडपत्र एवं चूर्णि का पाठ है, जबकि शुन्निरग के लिए आचा० की अर्वाचीन प्रत एवं चूर्णि का पाठ है।

१२. चूर्णि की विभिन्न प्रतों में विभिन्न पाठ मिलते हैं।

पन्नाणेहि (शु०), पण्णाणेहि (जम्बू०)

१३. अलग-अलग सम्पादकों द्वारा अलग-अलग पाठ स्वीकृत किये गये हैं—

शुन्निरग—‘वियहित्तु’ पृ० ३, पं० १०, पडिसंवेहइ, पृ० १, पं० १८

जम्बू—‘विजहित्ता’ पृ० ६, पं० २०, पडिसंवेदयति, पृ० ३, पं० ७

शुन्निरग—समुट्ठाया, खेयण्णे, अणेगा, अनिच्चयं

जम्बू—समुट्ठाया, खेतण्णे, अणेगे^१, अणितियं

१४. एक ही सम्पादक ने ध्वनि-परिवर्तन के नियमों के अनुसार कभी प्राचीन तो कभी अर्वाचीन रूप स्वीकार किया है—

शुन्निरग—अविजाणए पृ० २, पं० ३; (पाठान्तर ‘अवियाणए’)

वियहित्तु पृ० ३, पं० १०; (पाठान्तर ‘विजहित्ता’)

अब हम पुनः पू० जम्बूविजयजी के संस्करण के पाठों की समीक्षा करेंगे।

श्री जम्बूविजयजी द्वारा स्वीकृत पाठों की समीक्षा

वे सन्दर्भ जिनमें प्राचीन प्रतों में मध्यवर्ती मूल व्यञ्जन सुरक्षित होते हुए भी उसका परिवर्तित रूप स्वीकृत किया गया है :—

१. मूल अघोष के बदले घोष व्यञ्जन स्वीकृत

(क) एगेसि^२ (सूत्र १, १४, २५, पाठान्तर—एकेसि)

(ख) लोगावादी (सूत्र ३, पाठान्तर लोकावादी, पुरानी प्रत शां० में ‘लोयावादी’ भी मिलता है।)

(ग) लोगंसि (सूत्र ८, ९, पाठान्तर—लोकंसि)

(घ) लोगं (सूत्र २२, पाठान्तर—लोकं)

(ङ) एगे (सूत्र १२, पाठान्तर—एके)

१. श्री जम्बूविजयजी को यह पाठ स्वीकार्य है, जो शंदा प्रत में मिलता है।

२. ऐसा जरूरी नहीं है कि मध्यवर्ती ‘क’ के लिए ‘ग’ वाला पाठ ही स्वीकृत किया जाना चाहिए। ‘क’ की यथावत् स्थिति, उसका घोष या लोप (या ‘य’ श्रुति) ये तीनों पाठ इस ग्रन्थ में लिए गये हैं।

जैसे :—

(अ) एकयरं (सूत्र ९६), णिकरणाए (सूत्र ९७), पकरंति (सूत्र ६२)

(ब) एगेसि (सूत्र १), अणेग (सूत्र ६), आहारग (सूत्र ४५), लोगंसि (सूत्र ५)

(क) लोए (सूत्र १०), पत्तेयं (सूत्र ४९), उदय (सूत्र २३)

[सूत्र ५२ में एक ही शब्द के दो रूप एक साथ मिलते हैं—बधेति, बहेति। सूत्र ३३ में ‘सता’ और ‘सदा’ दोनों रूप एक साथ मिलते हैं।]

२. मूल घोष व्यञ्जन के बदले में अघोष^१ व्यञ्जन का त्याग एवं लोप का स्वीकार—

(क) आयाणीयं (सूत्र १४, ३६, ४४, ५२, पाठान्तर—आताणीयं)

(ख) पवयमाणा (सूत्र १२, पाठान्तर—पवतमाणा)

३. मूल अघोष व्यञ्जन का घोष अस्वीकृत, परन्तु लोप स्वीकृत—

(क) उववाइए (सूत्र १, २, पाठान्तर—उववादिए)

(ख) सहसम्मुड्याए (सूत्र २, पाठान्तर—सहसम्मुदियाए)

[दिगम्बरो के प्राचीन शास्त्र की भाषा शौरसेनी है और उसमें 'त' का 'द' पाया जाता है। 'त' का लोप तो बहुत बाद में हुआ है। अतः श्वेताम्बरो के अर्धभागधी आगम की भाषा क्या दिगम्बरो के आगमों से भी पश्चात्कालीन मानी जानी चाहिए ?]

४. मूल व्यञ्जन के बदले में लोप स्वीकृत—

क. सव्वाओ^२ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ (सूत्र २, पाठान्तर—सव्वातो वा दिसातो सव्वातो अणुदिसातो)

ख. अविद्याणओ (सूत्र ४९, पाठान्तर—अविजाणतो)

ग. कप्पइ णे कप्पइ णे पातुं (सूत्र २७, पाठान्तर—कप्पति णे कप्पइ णे पातुं)

घ. सहसग्गुड्याए (सूत्र २, पाठान्तर—सहसग्गुतियाए)

ङ. अहं (सूत्र ४१, पाठान्तर—अधं)

५. प्राचीन के बदले अर्वाचीन रूप (शब्द का) स्वीकृत—

१. 'त' श्रुति का प्रश्न:—मध्यवर्ती 'त' एवं 'थ' का क्रमशः 'द' एवं 'घ' में बदलना शौरसेनी एवं मागधी भाषा का लक्षण माना गया है। यह प्रवृत्ति महाराष्ट्री प्राकृत में होने वाले लोप से प्राचीन मानी गयी है। पैशाची प्राकृत में 'द' का 'त' में परिवर्तन होता है और यह प्रवृत्ति भी लोप से प्राचीन मानी गयी है। 'द' के 'त' में होने वाले परिवर्तन एवं मध्यवर्ती 'त' को सुरक्षित रखने वाली प्रवृत्ति को 'त' श्रुति नहीं कहा जा सकता। इन दो व्यञ्जनों के अतिरिक्त अन्य मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यञ्जन के स्थान पर यदि 'त' आता हो तो उसे ही 'त' श्रुति कहा जायगा। जैसे:—धम्मंतं (धर्मकप्प, सूत्र ४५), उपवादिते (उपपातिके, सूत्र २), बाहिता (बाह्यका, सूत्र ५६) इत्यादि 'त' श्रुति के उदाहरण हैं। सता (सदा, सूत्र ३३), पवतमाण (प्रवदमान, सूत्र १२ का पाठान्तर) इत्यादि 'त' श्रुति के उदाहरण नहीं माने जाएंगे, परन्तु घोष व्यञ्जन का अघोष में परिवर्तन माना जायेगा।

[इधर इतना और स्पष्ट कर देना उचित होगा कि पू० जम्बूविजयजी ने 'तहा' और 'जहा' के बदले ताडपत्रीय प्रतों और चूर्णि में मिलने वाले 'तघा' और 'जघा' को छोड़ दिया है और उनके पाठान्तर भी क्वचित् ही दिये हैं (देखिए प्रस्तावना, पृ० ४४)। ऐसा करके उन्होंने प्राचीन रूप छोड़ दिये हैं और उनके बदले में अर्वाचीन रूपों को स्वीकार किया है।]

२. सूत्र नं. १ में ओ एवं तो (पंचमी एकवचन की विभक्ति) दोनों रूप एक साथ स्वीकृत किये गये हैं।

सूत्र नं. २ में 'पुरत्थिमातो दिसातो' में 'दिसातो' का स्वीकृत पाठ किसी भी ताडपत्रीय प्रत का पाठ नहीं है। इसी तरह आगे इसी सूत्र में 'इमाओ दिसाओ' के बदले में कागज की जै० प्रत का पाठ 'इमातो दिसातो' क्यों छोड़ दिया गया है ?

क. अट्टिमिजाए^१ (सूत्र ५२, पाठान्तर—अट्टिमिज्जाए)

६. प्राचीन के बदले अर्वाचीन रूप (पद) का स्वीकृत—

क. पण्णाणेणं^२ (सूत्र ६२, पाठान्तर—पण्णाणेण)

ख. समुट्ठाए^३ (सूत्र १४, २५, ३६, ४०, ४४, ५२, ५९ एवं ७०, ९५, १९३ में भी कुछ स्थलों के पाठान्तर 'समुट्ठाय' संदी०—प्रत को शुद्धतम माना गया है, उसमें भी 'समुट्ठाय' पाठ मिलता है।)

ग. अणुपुञ्जीए (सूत्र २३०, पृ० ८४, पं० १३, पाठान्तर—अणुपुञ्जीयं; प्राकृत के व्याकरणकारों ने इस 'य' विभक्ति का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु प्राचीन प्राकृत साहित्य में 'य' विभक्ति के कितने ही उदाहरण मिलते हैं और पालि भाषा में यह प्रचलित विभक्ति है।)

७. लेहिए की गलती से कभी-कभी भ्रम होने से पाठ बदल गया है और प्राचीन विभक्ति के बदले अर्वाचीन विभक्ति अपनायी गयी हो, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

क. अण्णयरम्मि (सूत्र ९६, पृ० २८, पं० ११, पाठान्तर—अण्णयरसि)

यह पाठान्तर शुब्रिग महोदय द्वारा दिये गये प्राचीनतम ताडपत्रीय प्रत और चूर्णि में भी उपलब्ध है। प्रतों में 'स्सि' के बदले 'म्मि' की भ्रान्ति होती है, यदि अक्षर स्पष्ट नहीं हो। उदाहरण के तौर पर 'संपमारए' (जम्बू० सूत्र १५, पृ० ५, पं० १७ एवं शुब्रिग० पृ० २, पं० ३०) के बदले में शुब्रिग के संस्करण में एवं प्राचीनतम ताडपत्र की प्रत में 'संपसारए' पाठ मिलता है और हिंसिसु (अर्थात् 'हिंसिसु') के बदले में चूर्णि में 'हिंसिसु' (जम्बू० सूत्र ५२, पृ० १४, पं० १) पाठ मिलता है।



१. स्वीकृत 'मिजाए' के बदले 'मिज्जाए' रूप प्राचीन है, जबकि इसी सूत्र नं. ५२ में 'पिच्छाए, पुच्छाए' के बदले में 'पिच्छाए, पुच्छाए' रूप स्वीकृत किये गये हैं, तब फिर 'मिज्जाए' रूप क्यों छोड़ दिया गया ?
२. तृतीया एकवचन की-एण विभक्ति-एणं से प्राचीन है और यह एण विभक्ति प्राचीनतम प्रत में मिलती है।
३. यह जरूरी नहीं कि सभी जगह एक ही रूप प्रयुक्त हुआ हो। खं० हे० ३ एवं ला० प्रतों में 'समुट्ठाय' मिलता है और सूत्र नं. ७० में तो संदी० प्रत में भी समुट्ठाय ही मिलता है। संदी० प्रत शुद्धतम मानी गयी है (देखिए पृ० ४१६)।